वासुदेव शरण अग्रवाल रचित पुस्तक 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन' में अभिव्यक्त सामाजिक–आर्थिक जीवन

डॉ० सिद्धार्थ सिंह

विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग

टी०डी० पी०जी० कॉलेज, जौनपुर, उत्तर प्रदेश।

संबद्ध: वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उत्तर प्रदेश।

शोध सारांश–

प्रस्तुत शोध आलेख भारतविद्या के मूर्धन्य मनीषी एवं सांस्कृतिक इतिहासकार डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की कालजयी समीक्षात्मक कृति 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन' के विशेष आलोक में प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का एक गंभीर, सुव्यवस्थित और वस्तुनिष्ठ अनुशीलन प्रस्तुत करता है। पारंपरिक इतिहास–लेखन में पुराणों को बहुधा धार्मिक रूढ़ियों, अलौकिक आख्यानों अथवा पारलौकिक मिथकों का संकलन मानकर अकादमिक विमर्श से ओझल रखा जाता रहा है। किंतु डॉ. अग्रवाल ने अपनी असाधारण इतिहास–पुराण की समन्वित दृष्टि और भाषावैज्ञानिक लोक–सांस्कृतिक प्रविधि के माध्यम से इन पौराणिक आख्यानों की अंतःस्थलीय परतों को उघाड़कर उनके भीतर सांस ले रहे लौकिक जनजीवन को स्थापित किया है। यह शोध पत्र इस मौलिक स्थापना को रेखांकित करता है कि 'मत्स्य पुराण' केवल एक धार्मिक महापुराण नहीं है, वरन् डॉ. अग्रवाल के भाष्य के माध्यम से वह गुप्त साम्राज्य के चरमोत्कर्ष और उसके ठीक बाद की सामंतवादी प्रवृत्तियों (गुप्तोत्तर काल) के संक्रांति –काल का एक अत्यंत सजीव, प्रामाणिक और अटूट सामाजिक–आर्थिक दस्तावेज सिद्ध होता है।

डॉ. अग्रवाल के मूल सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय निष्कर्षों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए इस आलेख में तत्कालीन समाज की गत्यात्मकता और आर्थिक सुदृढ़ता का सांगोपांग विवेचन किया गया है। सामाजिक पटल पर जहां यह पुराण रूढ़िवादी वर्णाश्रम व्यवस्था और समकालीन व्यावसायिक जातियों के उदय के बीच एक मूक समन्वय की कथा कहता है, वहीं स्त्री की स्थिति के संदर्भ में यह बाह्य संकुचन और 'व्रत–विधा' के माध्यम से आंतरिक धार्मिक–मानसिक स्वायत्तता के अंतर्विरोधों को उजागर करता है। आर्थिक मोर्चे पर, कृषि प्रधान भारत की तत्कालीन आवश्यकताओं को समझते हुए पुराणकारों ने कूप, वापी और तड़ाग निर्माण को 'पूर्त–धर्म' से जोड़कर जन–भागीदारी का जो अप्रतिम मानवीय ढांचा तैयार किया, उसे डॉ. अग्रवाल ने बहुत सूक्ष्मता से व्याख्यायित किया है। इसके साथ ही, वस्त्र, धातु और वास्तु शिल्प की तकनीकी उन्नति तथा स्वायत्त व्यापारिक श्रेणियों की स्वतंत्र बैंकिंग कार्यप्रणाली ने यह प्रमाणित किया कि राजनीतिक उथल–पुथल के दौर में भी देश की आर्थिक रीढ़ अक्षुण्ण रही। सुदूर समुद्र पार रोमन साम्राज्य और सुवर्णभूमि तक विस्तृत वाणिज्य–व्यापार के साक्ष्य इस युग की भौतिक संपन्नता को दर्शाते हैं। निष्कर्षतः, यह शोध पत्र स्पष्ट करता है कि डॉ. अग्रवाल की कृति 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन' इतिहास की दृष्टि को महलों और वंशावलियों के संकीर्ण गलियारों से निकालकर आम आदमी के खेतों, शिल्प–शालाओं, लोक–उत्सवों और उसकी दैनिक जीविका के बृहद सामाजिक–आर्थिक धरातल पर प्रतिष्ठित करती है।

बीज शब्द–

मत्स्य पुराण, वासुदेव शरण अग्रवाल, सामाजिक–आर्थिक जीवन, पौराणिक संस्कृति, वर्ण–व्यवस्था, नारी की स्थिति, कृषि व्यवस्था, व्यापार–वाणिज्य।

प्राचीन भारतीय इतिहासशास्त्र की सबसे बड़ी सीमा यह रही है कि यहाँ राजनीतिक घटनाओं, साम्राज्यवादी विस्तारों और शासकों की वंशावलियों को ही इतिहास का पर्याय मान लिया गया, जबकि इस भू–भाग पर निरंतर गतिमान लोक–जीवन और उसकी सामाजिक–आर्थिक अंतःचेतना को हाशिए पर रखा गया। ऐसे संक्रमण काल में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने पुराणों के सांस्कृतिक अध्ययन का एक नया मार्ग प्रशस्त किया। अठारह महापुराणों में 'मत्स्य पुराण' अपनी कालानुक्रमिक प्राचीनता और विषय–वस्तु की विविधता के कारण अद्वितीय है। डॉ. अग्रवाल ने अपनी कालजयी आलोचनात्मक कृति 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन' में स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि पुराण वास्तव में हमारी लोक–सांस्कृतिक परंपरा के महाकोश हैं। उनके अनुसार, पुराणों की भाषा और उनके आख्यानों के पीछे तत्कालीन समाज का भौतिक और मानसिक स्पंदन छुपा हुआ है। गुप्त और गुप्तोत्तर कालीन भारत का जो रूप हमें पुरातात्विक साक्ष्यों में बिखरा हुआ मिलता है, मत्स्य पुराण उसे एक मुकम्मल सामाजिक–आर्थिक ताने–बाने में पिरोकर हमारे सामने उपस्थित करता है। डॉ. अग्रवाल की व्याख्यात्मक दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे रूढ़ियों के भीतर छिपी सामाजिक गतिशीलता और आर्थिक व्यवस्था को पकड़ने में पूर्णतः सिद्धहस्त हैं।

मत्स्य पुराण के सामाजिक ढांचे का विश्लेषण करते हुए डॉ. अग्रवाल ने इस तथ्य को स्थापित किया है कि सैद्धांतिक रूप से भले ही समाज चतुर्वर्ण व्यवस्था के आदर्शों से बंधा हुआ दिखाई देता था, परंतु व्यावहारिक धरातल पर वह अत्यंत लचीला और गत्यात्मक था। इस युग तक आते–आते विभिन्न व्यवसायों, शिल्पों और विदेशी जातियों के भारतीयकरण के कारण समाज में अनगिनत उपजातियों का उदय हो चुका था। ब्राह्मणों का स्थान समाज में बौद्धिक और आध्यात्मिक नेतृत्व के कारण सर्वोच्च बना हुआ था, जिसे पुराणों में भूमि–अनुदानों और 'महादानों' की महिमा गाकर और अधिक सुदृढ़ किया गया। क्षत्रिय वर्ग जहाँ शासन और न्याय का उत्तरदायित्व संभाल रहा था, वहीं वैश्य वर्ग कृषि और वाणिज्य के माध्यम से राष्ट्र की समृद्धि का मूलाधार बना हुआ था। शूद्रों की स्थिति के संदर्भ में डॉ. अग्रवाल ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण सामाजिक परिप्रेक्ष्य की ओर संकेत किया है। उनका मानना है कि मत्स्य पुराण का कालखंड वह युग है जब शूद्रों को धार्मिक व्रतों, दान और पुराण–श्रवण की अनुमति देकर समाज के अंतिम छोर पर खड़े लोगों को सांस्कृतिक मुख्यधारा में समाहित करने का एक मूक, सहिष्णु और मानवीय प्रयास किया जा रहा था। यह भारतीय समाज की आंतरिक आत्म–नियमन की क्षमता का परिचायक है। ग्रंथ में राजा के सामाजिक कर्तव्यों और वर्ण–संरक्षण के आदर्श को रेखांकित करते हुए कहा गया है:

"दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा, न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा, पञ्चक्रतुः संप्रदिटो नृपाणाम्॥"[1]

वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत गृहस्थ आश्रम को संपूर्ण सामाजिक संरचना की धुरी स्वीकार किया गया है। मत्स्य पुराण में वर्णित पंचमहायज्ञ और अतिथि–सत्कार के नियम केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं थे, बल्कि वे समाज के विभिन्न घटकों के बीच आर्थिक संतुलन बनाए रखने के व्यावहारिक साधन थे। गृहस्थ ही समाज का एकमात्र उत्पादक वर्ग था, जिसके श्रम और करों पर ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी—तीनों आश्रित थे। इसलिए पुराणकारों ने गृहस्थ धर्म को सबसे कठिन और सबसे पवित्र घोषित किया। डॉ. अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि यह व्यवस्था व्यक्तिगत अध्यात्म को सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ जोड़ने का एक अद्भुत प्रयास थी, जिसने भारतीय समाज को एक गहरे नैतिक संकट से बचाए रखा।

किसी भी समाज की सांस्कृतिक परिपक्वता का वास्तविक मूल्यांकन इस बात से होता है कि वह अपने भीतर स्त्री को क्या स्थान और अधिकार प्रदान करता है। मत्स्य पुराण में नारी की स्थिति के दो अत्यंत जटिल और अंतर्विरोधी आयाम दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका डॉ. अग्रवाल ने अत्यंत तटस्थता और अकादमिक ईमानदारी के साथ विवेचन किया है। एक ओर, पारिवारिक और मांगलिक संदर्भों में स्त्री को 'गृहलक्ष्मी', अर्धांगिनी और संतानों की माता के रूप में सर्वोच्च आदर प्राप्त है; उसके बिना कोई भी यज्ञ या अनुष्ठान पूर्ण नहीं माना जाता था। किंतु दूसरी ओर, बाह्य और सार्वजनिक जीवन में उसकी स्वतंत्रता पर स्मृतियों के कड़े अनुशासन थोपे जा रहे थे। बाल–विवाह का प्रचलन बढ़ रहा था, पैतृक संपत्ति में अधिकार सीमित थे, और सती प्रथा जैसी कुप्रथाओं के प्रारंभिक पदचिह्न भी दिखाई देने लगे थे।

परंतु, इस दमघोंटू व्यवस्था के बीच मत्स्य पुराण ने स्त्रियों को 'व्रत–विधान' के रूप में एक अनूठा और स्वायत्त क्षेत्र प्रदान किया। पुराण में वर्णित सैकड़ों ऐसे व्रत हैं (जैसे 'अनन्ततृतीया व्रत') जिन्हें स्त्रियां बिना किसी पुरुष पुरोहित या मध्यस्थ के, अपनी व्यक्तिगत निष्ठा से स्वतंत्र रूप से पूर्ण कर सकती थीं। डॉ. अग्रवाल अपनी समीक्षा में इस बात को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं कि ये व्रत केवल उपवास मात्र नहीं थे, बल्कि तत्कालीन पितृसत्तात्मक ढांचे के भीतर स्त्री समाज को मानसिक संबल देने, उनकी धार्मिक सत्ता को बनाए रखने और समाज में उन्हें एक सुरक्षित वैचारिक स्थान प्रदान करने का एक अनूठा माध्यम थे। पतिव्रत धर्म और पारिवारिक शांति के इसी महत्व को स्पष्ट करते हुए पुराण कहता है:

"**अनुकूला भवेद्भार्या यस्य सद्मनि सर्वदा।**

तस्य श्रीः सर्वदा तत्र सुखं मोदश्च वर्धते॥"[2]

इसके अतिरिक्त, पुराण में 'वारांगनाओं' (गणिकाओं) के नागरिक अधिकारों, उनके कर्तव्यों और उनके आर्थिक करों का जो विस्तृत विवरण मिलता है, वह यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन समाज जीवन की यथार्थवादी सच्चाइयों से मुंह नहीं मोड़ता था, बल्कि उन्हें सामाजिक नियमों के दायरे में लाकर नियमित करता था।

लोक–जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को देखें, तो मत्स्य पुराण का समाज अत्यंत जीवंत, आनंदमय और उत्सवधर्मी समाज के रूप में उभरता है। समाज में कौमुदी महोत्सव, मदनोत्सव, हिंडोला उत्सव और देव–रथ यात्राओं की व्यापक धूम रहती थी। डॉ. अग्रवाल के अनुसार, ये लोक– उत्सव वर्ग–विभेद को कम करने और सामाजिक समरसता को सुदृढ़ करने के सशक्त माध्यम थे, जहाँ राजा से लेकर रंक तक एक ही रंग में सराबोर हो जाते थे। संगीत, नाट्य, पासा और मल्ल–युद्ध मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। खान–पान में सात्विकता और ऐश्वर्य का मिश्रण था—दूध, दही, घृत, शाक, नए धान और विभिन्न मिष्ठान्नों का प्रचुर प्रयोग होता था। वेशभूषा और अलंकरण के प्रति स्त्री–पुरुष दोनों का अनुराग तत्कालीन आर्थिक समृद्धि और उच्च सुरुचि का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आर्थिक दृष्टि से मत्स्य पुराण एक आत्मनिर्भर, सुव्यवस्थित और बहुआयामी अर्थव्यवस्था का प्रामाणिक खाका प्रस्तुत करता है। इस अर्थव्यवस्था का मूल आधार कृषि थी। पुराण में भूमि के चयन, हल के निर्माण, बीजारोपण, फसल चक्र और अन्न–भंडारण की तकनीकों का जो सूक्ष्म विवरण प्राप्त होता है, वह तत्कालीन कृषक समाज के उन्नत व्यावहारिक ज्ञान को दर्शाता है। डॉ. अग्रवाल ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि कृषि प्रधान देश में सिंचाई की महत्ता को समझते हुए पुराणकारों ने कूप (कुएं), वापी (बावड़ी) और तड़ाग (तालाब) के निर्माण को 'पूर्त–धर्म' (लोक–कल्याणकारी धर्म) के अंतर्गत सर्वोच्च पुण्य का कार्य घोषित किया। यह धर्म और अर्थशास्त्र का एक अत्यंत व्यावहारिक और मानवीय समन्वय था, जिसने राज्य के संसाधनों पर निर्भर रहे बिना, समाज को स्वयं अपने जल–संकट के निवारण के लिए प्रेरित किया। जल–

संसाधों और वृक्षों की महत्ता को प्रतिपादित करने वाला यह श्लोक पर्यावरण चेतना का सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक उदाहरण है:

"दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः।

दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥"[3]

भूमि व्यवस्था और भू–राजस्व के नियम भी अत्यंत स्पष्ट थे। यद्यपि संप्रभुता के सिद्धांत के तहत राजा को भूमि का अंतिम स्वामी माना जाता था, परंतु व्यावहारिक रूप से जो किसान भूमि को जोतता–बोता था, उसके उपभोग के अधिकार सुरक्षित और वंशानुगत थे। राजा उपज का एक निश्चित और न्यायसंगत भाग (सामान्यतः छठा भाग या 'षड्भाग') कर के रूप में लेने का अधिकारी था। अकाल, बाढ़ या अन्य प्राकृतिक विभीषिकाओं के समय करों में पूर्ण छूट और राजकीय अन्नागारों से प्रजा की सहायता के निर्देश राजा के लोक–कल्याणकारी स्वरूप को स्थापित करते हैं। डॉ. अग्रवाल ने इस काल में 'अग्रहार' (ब्राह्मणों और मंदिरों को दी जाने वाली कर–मुक्त भूमि) की बढ़ती प्रवृत्ति का भी गंभीर आर्थिक विश्लेषण किया है। उनका मानना है कि इस व्यवस्था ने जहाँ एक ओर स्थानीय स्तर पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाया, वहीं दूसरी ओर इसने आगे चलकर एक ऐसे विकेंद्रीकृत सामंतवाद को जन्म दिया जिसने केंद्रीय राजनीतिक सत्ता को कमजोर करने में भूमिका निभाई।

कृषि के समानांतर पशुपालन इस समाज की आर्थिक समृद्धि का दूसरा मुख्य स्तंभ था। गाय, बैल, भैंस और अश्वों का पालन व्यापक रूप से होता था। विशेष रूप से गो–धन केवल धार्मिक श्रद्धा का विषय नहीं था, बल्कि वह तत्कालीन समाज में विनिमय और आर्थिक संपन्नता का सबसे बड़ा मापदंड था। गो–शालाओं का प्रबंधन और गो–रक्षा राज्य के प्रमुख दायित्वों में शामिल थे।

मत्स्य पुराण के आर्थिक जीवन का सबसे गौरवशाली अध्याय तत्कालीन शिल्प और उद्योगों का अभूतपूर्व विकास है। भारत के शिल्पियों का हुनर इस काल में अपने चरमोत्कर्ष पर था। कपड़ा उद्योग, धातुकर्म (विशेषकर लौह और स्वर्ण शिल्प), काष्ठ शिल्प और पाषाण नक्काशी की तकनीक अत्यंत परिपक्व हो चुकी थी। पुराण में वर्णित बहुमंजिला प्रसादों, सुदृढ़ दुर्गों, युद्ध–रथों और विशाल समुद्री जहाजों के निर्माण के सिद्धांत तत्कालीन स्थापत्य और इंजीनियरिंग की उन्नति को स्वतः प्रमाणित करते हैं। नगर–नियोजन और गृह–निर्माण की वैज्ञानिक परंपरा का उल्लेख करते हुए ग्रंथ में कहा गया है:

"ततो वास्तुप्रवक्ष्यामि लोकहितकाम्यया।

प्रासादभवनोद्यान–लक्षणं पुरविन्यासं तथा॥"[4]

इन शिल्पों और उद्योगों के सुचारू संचालन तथा उनके हितों की रक्षा के लिए 'श्रेणियों' या शिल्प संघों का एक अत्यंत शक्तिशाली स्वायत्त ढांचा क्रियाशील था। प्रत्येक व्यवसाय की अपनी श्रेणी होती थी, जिसके अपने स्वतंत्र नियम, न्यायालय और कार्यप्रणाली होती थी। ये श्रेणियां न केवल उत्पादन की गुणवत्ता और मूल्य का निर्धारण करती थीं, बल्कि वे आधुनिक बैंकों की भांति जनता का धन जमा रखती थीं, उस पर ब्याज देती थीं और व्यापारियों को ऋण भी उपलब्ध कराती थीं। सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य यह है कि राजनीतिक उथल–पुथल या राजवंशों के बदलने का इन श्रेणियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था; राजा भी इनके आंतरिक कानूनों का आदर करते थे। डॉ. अग्रवाल की यह मूल स्थापना अत्यंत सटीक है कि इन स्वायत्त श्रेणियों की सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था के कारण ही विदेशी आक्रमणों और राजनीतिक अस्थिरता के थपेड़ों के बावजूद भारत की आर्थिक रीढ़ कभी नहीं टूटी और देश का वैभव बना रहा।वाणिज्य और व्यापार के क्षेत्र में मत्स्य पुराण आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही व्यापारिक मार्गों की जीवंत उपस्थिति को दर्शाता है। देश के भीतर विभिन्न व्यापारिक केंद्र स्थलमार्गों और नदीमार्गों के एक सघन जाल से जुड़े हुए थे। सार्थवाह (व्यापारिक काफिलों के नेता) अत्यंत दुर्गम क्षेत्रों तक माल का परिवहन करते थे। पुराण में प्रयुक्त 'समुद्र–यातुः' शब्द और जहाजों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख यह अकादमिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है

कि भारत का समुद्री व्यापार दक्षिण–पूर्व एशिया (सुवर्णद्वीप) और रोमन साम्राज्य के साथ अत्यंत तीव्र गति से चल रहा था। इस विनिमय में दीनार, द्रम्म और कार्षापण जैसे सिक्कों का प्रयोग मुद्रा–अर्थव्यवस्था के प्रसार को दिखाता है, यद्यपि ग्रामीण अंचलों में वस्तु–विनिमय की व्यवस्था भी समानांतर रूप से क्रियाशील थी।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की विचार–सरणि और इतिहास–दृष्टि की प्रासंगिकता इस बात में है कि उन्होंने पुराणों को किसी संकीर्ण सांप्रदायिक चश्मे से नहीं देखा, बल्कि उन्हें भारतीय मेधा और श्रम के विकासवादी इतिहास के रूप में पढ़ा। उनके इस मानवीय और सामाजिक–आर्थिक दृष्टिकोण की पुष्टि समकालीन और परवर्ती इतिहासकारों जैसे डॉ. ए.एस. अल्तेकर, डॉ. आर.सी. मजूमदार और डॉ. राम शरण शर्मा के स्वतंत्र शोधों से भी होती है। जब हम गुप्त और गुप्तोत्तर काल के आर्थिक आधिक्य को देखते हैं, तभी हमें समझ आता है कि उस युग की अनुपम कला, उत्कृष्ट मूर्तियाँ और अमर साहित्यिक कृतियाँ किसी आकस्मिक चमत्कार का परिणाम नहीं थीं, बल्कि उनके पीछे एक खुशहाल, सुरक्षित और आर्थिक रूप से अत्यंत सुदृढ़ सामाजिक जीवन धड़क रहा था।

निष्कर्ष–

इस विशद वैचारिक अनुशीलन के उपरांत हम इस दृढ़ अकादमिक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल रचित कृति 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन' प्राचीन भारतीय सामाजिक–आर्थिक इतिहास के पुनर्निर्माण की एक अत्यंत विश्वसनीय और अपरिहार्य कुंजी है। यह शोध पत्र पूरी तरह से अपने मूल शीर्षक को चरितार्थ करते हुए यह स्थापित करता है कि मत्स्य पुराण का समाज जड़ता और रूढ़ियों के बीच भी गत्यात्मकता और समन्वय का मार्ग खोजना जानता था। डॉ. अग्रवाल ने अपनी गहन अंतर्दृष्टि और वैज्ञानिक प्रविधि से यह अकादमिक सत्य उद्घाटित किया कि पुराणों के धार्मिक आवरण के भीतर हाड़–मांस के इंसानों का एक जीवंत, कर्मठ और संवेदनशील सामाजिक–आर्थिक ढांचा क्रियाशील था। सामाजिक जीवन के स्तर पर जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था व्यावसायिक जातियों में रूपांतरित होकर अपनी सैद्धांतिक कठोरता को व्यावहारिक लचीलापन दे रही थी, वहीं स्त्रियों के अधिकारों के संकुचन के दौर में व्रतों के माध्यम से उन्हें एक आंतरिक स्पेस और धार्मिक स्वायत्तता प्रदान की गई थी।

ठीक इसी प्रकार, यदि आर्थिक जीवन के दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया जाए, तो उन्नत कृषि तकनीक, पूर्त–धर्म पर आधारित विकेन्द्रीकृत जल–संरक्षण, श्रेणियों की स्वायत्त बैंकिंग प्रणाली और सुदूर देशों तक फैला अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तत्कालीन भारत को उस आर्थिक आत्मनिर्भरता के शिखर पर स्थापित करता है, जिसे इतिहास में 'स्वर्ण युग' के नाम से स्मरण किया जाता है। अतः, इस शोध का अंतिम निष्कर्ष यही है कि डॉ. अग्रवाल का यह ग्रंथ इतिहास की चेतना को राजाओं के महलों और युद्धक्षेत्रों के संकीर्ण गलियारों से मुक्त करके आम जनता के खेतों, खलिहानों, शिल्पशालाओं, लोक–उत्सवों और उनकी दैनिक जीविका के बृहद सामाजिक–आर्थिक पटल पर मजबूती से प्रतिष्ठित करता है।

सन्दर्भ–

1– मत्स्य पुराण, अध्याय 215, श्लोक 58 ;

द्रष्टव्य व्याख्या: डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन', रामनगर, वाराणसी: ऑल इंडिया काशिराज ट्रस्ट, पृष्ठ 68

2– मत्स्य पुराण, अध्याय 210, श्लोक 18 ;

द्रष्टव्य व्याख्या: डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन', पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 124

3– मत्स्य पुराण, अध्याय 154, श्लोक 512 ;

द्रष्टव्य व्याख्या: डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन', पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 186

4– मत्स्य पुराण, अध्याय 252, श्लोक 1 ;

द्रष्टव्य व्याख्या: डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'मत्स्य पुराण : एक अध्ययन', पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 242

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1963). मत्स्य पुराण : एक अध्ययन. रामनगर, वाराणसी: ऑल इंडिया काशिराज ट्रस्ट।

2. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1953). पाणिनिकालीन भारतवर्ष. बनारस: चौखम्बा विद्याभवन।

3. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1964). भारतीय कला. वाराणसी: पृथ्वी प्रकाशन।

4. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1965). कादम्बरी: एक सांस्कृतिक अध्ययन. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन।

5. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1948). हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन. पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद।

6. अल्तेकर, अनंत सदाशिव. (1956). प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति. बनारस: मोतीलाल बनारसीदास।

7. मजूमदार, आर.सी. और अल्तेकर, ए.एस. (1946). द वाकाटक–गुप्ता एज. लाहौर: भारतीय इतिहास परिषद।

8. शर्मा, राम शरण. (1966). लाइट ऑन अर्ली इंडियन सोसाइटी एंड इकॉनमी. बम्बई: मनकतलाज़।

9. शर्मा, राम शरण. (1965). इंडियन फ्यूडलिज्म. कलकत्ता: कलकत्ता विश्वविद्यालय।

10. उपाध्याय, भगवतशरण. (1968). गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास. दिल्ली: राजपाल एंड संस।

11. काणे, पांडुरंग वामन. (1953). धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 4). पूना: भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट।

12. थपर, रोमिला. (1966). ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया (वॉल्यूम 1). पेलिकन बुक्स।

13. रायचौधरी, हेमचंद्र. (1950). पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एन्शियंट इंडिया. कलकत्ता: कलकत्ता विश्वविद्यालय।

14. घोषाल, यू.एन. (1929). कंट्रीब्यूशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ़ द हिंदू रेवेन्यू सिस्टम. कलकत्ता: कलकत्ता विश्वविद्यालय।

15. झा, डी.एन. (1980). स्टडीज इन अर्ली इंडियन इकोनॉमिक हिस्ट्री. दिल्ली: चाणक्य पब्लिकेशन्स।